* श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः *

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः

भागवत-पत्रिका

नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक ।
भक्ति अधोक्षज की अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥

सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।
किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो, श्रम व्यर्थ सभी, केवल बंधनकर ॥

वर्ष ८ | गौराब्द ४७६, मास—माधव ५, वार—संकर्षण
सोमवार, २९ पौष, सम्वत् २०१९, १४ जनवरी १९६३ | संख्या ८

श्रीश्रीकेशवाष्टकम्

[श्रीमद्-रूप-गोस्वामि-विरचितम्]

श्रीकेशवाय-नमः

नव-प्रियकमञ्जरीरचित-कर्णपूर-श्रियं विनिद्रतर-मालतीकलित-शेखरेणोज्ज्वलम् ।
दरोच्छ्वसित-यूथिकाग्रथित-वल्गु-वैकक्षकं व्रजे विजयिनं भजे विपिनदेशतः केशवम् ॥१॥

पिशङ्गि मणिकस्तनि प्रणतशृङ्गि पिङ्गेक्षणे मृदङ्गमुख धूमले शबलि हंस बंशिप्रिये ।
इति स्व-सुरभीकुलं तरलमाह्वयन्तं मुदा व्रजे विजयिनं भजे विपिनदेशतः केशवम् ॥२॥

घनप्रणय-मेदुरान् मधुर-नर्म गोष्ठी-कला-विलास-निलयान् मिलिद्विविध-वेश-विद्योतिनः ।
सखीनखिल-सारया पथिषु हासयन्तं गिरा व्रजे विजयिनं भजे विपिनदेशतः केशवम् ॥३॥

श्रमाम्बु-कणिकावली-दरविलीढ-गण्डान्तरं समुद्गिरिधातुभिर्लिखित-चारु-पत्रांकुरम् ।
उदञ्चदलिमण्डली-रुचिविडम्बि-वक्त्रालकं व्रजे विजयिनं भजे विपिनदेशतः केशवम् ॥४॥

निबद्ध-नव-तर्णकावली-विलोकनोत्कण्ठया नटत्-खुरपुटाञ्चलैरलघुभिर्भुवं भिन्दतीम् ।
कलेन धवलाघटां लघुनिवर्त्तयन्तं पुरो व्रजे विजयिनं भजे विपिनदेशतः केशवम् ॥५॥

पदाङ्कततिभिर्वरां विरचयन्तमध्व-श्रियं चलत्तरल-नैचिकीनिचय धूलि-धुम्रस्रजम् ।
मरुल्लहरी-चञ्चलीकृत-दुकूल-चूडाञ्चलं व्रजे विजयिनं भजे विपिनदेशतः केशवम् ॥६॥
विलास-मुरलीकलध्वनिभिरुल्लसन्मानसाः क्षणादखिलवल्लवीः पुलकयन्तमन्तर्गृहे ।
मुहुर्विदधतं हृदि प्रमुदिताञ्च गोष्ठेश्वरीं व्रजे विजयिनं भजे विपिनदेशतः केशवम् ॥७॥
उपेत्य पथि सुन्दरीततिभिराभिरभ्यर्चितं स्मितांकुर करम्बितैर्नटदपाङ्गभङ्गीशतैः ।
स्तनस्तवक-संचरन्नयन-चञ्चरीकाञ्चलं व्रजे विजयिनं भजे विपिनदेशतः केशवम् ॥८॥
इदं निखिल-वल्लवीकुल-महोत्सवोल्लासनं क्रमेण किल यः पुमान् पठति सुष्ठु पद्याष्टकम् ।
तमुज्ज्वलधियं सदा निज-पदारविन्दद्वये रतिं ददचञ्चलां सुखयताद्विशाखा-सखः ॥९॥

अनुवाद—

अभिनव कदम्ब-मञ्जरी जिनका कर्णभूषण हैं, विकशित मालती-पुष्पोंकी मालाओंसे जिनका मस्तक सुशोभित है एवं जो अपने गलेमें ईषत्-विकशित अत्यन्त सुन्दर युथिका पुष्पोंकी माला धारण कर सन्ध्याकालमें वनसे व्रजकी ओर लौट रहे हैं, उन श्रीकेशवका मैं भजन करता हूँ ॥१॥

"हे पिशङ्गि ! हे मणिकस्तनि ! हे प्रणतशृङ्गि ! हे पिङ्गिचरणे ! हे मृदङ्ग मुखि ! हे धुमिले ! हे शबलि ! हे हंसि ! हे बंशिप्रिये !"—इत्यादि सम्बोधन वाक्यों द्वारा अपनी गौवोंको पुकारते जो वनसे गोष्ठकी ओर लौट रहे हैं, उन श्रीकेशवका मैं भजन करता हूँ ॥२॥

जो प्रगाढ़ प्रणय-हेतु अतिशय स्निग्ध हैं, जो सुमधुर परिहासपूर्ण बचनों एवं नृत्य-गीत आदि कलाविलासमें अत्यन्त कुशल हैं एवं जो नाना-प्रकार की बेश-भूषाओंसे सुशोभित हैं—ऐसे सखाओंके साथ हास-परिहास करते हुए जो वनसे व्रजकी ओर लौट रहे हैं, उन श्रीकेशवका मैं भजन करता हूँ ॥३॥

जिनका गण्ड-देश श्रमजनित जल-विन्दुओंसे सुशोभित है, जिनके मुखमण्डल पर नानाप्रकारकी गैरिक धातुओंसे पत्राङ्कुर चित्रित है एवं जिनके कुटिल केशकी शोभा, मधुके लोभसे चञ्चल अलिवृन्द की शोभाका भी तिरस्कार करती है—ऐसे वेशमें जो विपिनसे व्रजकी ओर लौट रहे हैं, उन नन्दनन्दन श्रीकेशवका मैं भजन करता हूँ ॥४॥

जो गौवें गोष्ठमें बँधे हुए अपने नवीन बछड़ोंको देखनेके लियेव्यग्र एवं परमोत्कंठित होकर खुरके अग्र भागसे भूमि खोद रही हैं, उनको वेणु-निनाद द्वारा लौटाते हुए जो वनसे गोष्ठको लौट रहे हैं, उन श्रीकेशवका मैं भजन करता हूँ ॥५॥

जो ध्वजा-पताका वज्रादिसे युक्त अपने पदचिह्नोंसे मार्गकी अतिशय शोभाका विस्तार कर रहे हैं, आगे दौड़ती हुई गौवोंके खुरोंसे उड़ती हुई धूला-राशिसे जिनकी वनमाला धूम्रवर्णकी हो गयी है, मन्द-मन्द समीरके संचालित होनेसे जिनके वस्त्रोंके अंचल और चूड़ा हिल रहे हैं—इस वेशमें जो वनसे गोष्ठको लौट रहे हैं,उन केशवका मैं भजन कर रहा हूँ ॥६॥

जो अपनी विलास-मुरलीके मधुर स्वरसे गृहावस्थित मातृस्थानीया समस्त व्रजाङ्गनाओंके चित्तको

उल्लसित तथा अत्यन्त आनन्दहेतु उनके शरीरको पुलकित कर रहे हैं एवं जो अपनी माता यशोदाजी के हृदयमें अत्यन्त आनन्द बढ़ा कर वनसे गोष्ठको लौट रहे हैं, उन केशवका मैं भजन कर रहा हूँ ॥७॥

दर्शनके लिये अटारियों पर चढ़ी हुई, मन्द हास्ययुक्त व्रज-रमणियोंकी कटाक्षमालासे जो सत्कृत हो रहे हैं, जो पुष्पगुच्छमें भ्रमरकी गतिकी भाँति उनके कुचाग्र मण्डलकी ओर दृष्टि निक्षेप करते-करते वनसे गोष्ठ को लौट रहे हैं, उन श्रीकेशवका मैं भजन करता हूँ ॥८॥

जो व्रज-रमणियोंके आनन्दको बढ़ानेवाले इस पद्याष्टकका विधिपूर्वक श्रद्धाके साथ पाठ करते हैं, विशाखाके सखा श्रीकृष्ण उनको उज्ज्वल धी-सम्पन्न बना कर अपने चरणकमलोंकी अचला भक्ति प्रदान कर चिर सुखी बना देते हैं ॥९॥

विषयीका कृष्णप्रेम

मायाबद्ध जीव इन्द्रिय-सुखकी प्राप्तिको ही जीवन का चरम प्रयोजन मानकर इन्द्रिय-तृप्तिकर विषयोंके अनुसन्धानमें ही सदा-सर्वदा व्यस्त रहता है। इन्द्रियोंका परिचालक पंचेन्द्रियके पाँच प्रकारके विषयोंको पाकर सुख अनुभव करता है। सुखकी अल्पता अथवा सुखके विपरीत दुःख, ये दोनों ही अवस्थाएँ इन्द्रिय-सुखपरायण बद्धजीवके लिए आदरणीय नहीं होतीं। वे कृष्ण-प्रेमको "विषय" माननेके लिए कदापि प्रस्तुत नहीं। कृष्ण-प्रेमसे उनको आनन्द नहीं प्राप्त होता। जो लोग कृष्ण प्रेमका आदर करते हैं, उन्हें इन्द्रिय-परायण विषयीगण किसी प्रकार भी आदर की दृष्टिसे नहीं देखते।

विषयीगण सर्वदा विषय-भोगोंको भोगनेमें ही व्यस्त रहनेके कारण कृष्णप्रेमसे सर्वथा उदासीन रहते हैं। कृष्णप्रेमका स्वरूप क्या है—इसे समझने-बुझनेकी आवश्यकता ही नहीं अनुभव करते। यदि कोई कुछ दूर अग्रसर भी होते हैं तो नश्वर इन्द्रिय-तृप्तिजनक व्यापारको ही कृष्ण-प्रेम समझकर भ्रान्त होते हैं। ऐसे लोगोंको ही प्राकृत सहजिया कहते हैं। ये प्राकृत सहजियागण जड़ेन्द्रिय-तर्पणमें मस्त होकर अपनेको कृष्ण-प्रेमका उच्च रसिक मानते हैं तथा निरुपाधिक कृष्णप्रेमके स्वरूपकी उपलब्धिके अभावमें साधु-वृत्तिके प्रति विद्वेष भावनाको ही कृष्णप्रेम मान बैठते हैं।

कृष्णप्रेम अपनी विक्षेपात्मिका और आवरणात्मिका वृत्तियोंसे भाग्यहीन इन्द्रिय-सुखको ही सर्वस्व समझनेवाले व्यक्तियोंके नित्यानित्य विवेकको स्तब्ध कर देते हैं। उस समय कतिपय भोगी व्यक्ति इन्द्रिय-तर्पणरहित त्यागीके विचारको ग्रहण करते हैं एवं कतिपय भोगी उसका अनादर कर भोगोंको भोगनेमें ही मत्त रहते हैं। इसलिये श्रीगौरसुन्दरने कृष्ण सेवोन्मुख पुरुषोंको विषयी और स्त्रीसंगियोंका दुःसंग

त्यागका उपदेश किया है। जड़ भोगोंमें मत्त व्यक्ति अप्राकृत अनुभूति एवं भोग-सम्बन्धी अनुभवको समजातीय समझकर साधु-संतोंके चरणोंमें अपराध कर बैठते हैं। वे कनक-कामिनि-प्रतिष्ठाके लोभी किसी गायकके मुखसे श्रीराधा-कृष्ण सम्बन्धी अश्लील गानोंको सुनकर उसे ही प्रेमीकी संज्ञा प्रदान करते हैं। इसीलिए श्रीश्रीमद्भक्ति विनोद ठाकुरने लिखा है—

कि आर बलिब तोरे मन !
मुखे बल 'प्रेम-प्रेम' वस्तुतः त्यजिया हेम,
शुन्यग्रन्थि अञ्चले बन्धन ॥
अभ्यासिया अश्रुपात, लम्फ झम्प अकस्मात्,
मूर्च्छाप्राय थाकह पड़िया।
ए लोक वंचिते रंग, प्रचारिया असत्संग,
कामिनी कांचन लभ गिया ॥
प्रेमेर साधन भक्ति, ताते नैल आनुरक्ति,
शुद्ध प्रेम केमने मिलिबे ?
दश अपराध त्यजि, निरन्तर नाम भजि,
कृपा हले सुप्रेम पाईबे ॥
ना मानिले सुभजन, साधुसंगे कीर्तन,
ना करिले निर्जने स्मरण।
ना उठिया वृक्षोपरि, टानाटानि फल धरि,
दुष्ट फल करिले अर्जन ॥
अकैतव कृष्णप्रेम, येन सुविमल हेम,
एई फल नृलोके दुर्लभ।
कैतवे वंचना मात्र, हओ आगे योग्य पात्र,
तबे प्रेम हइबे सुलभ ॥
कामे प्रेमे देख भाई, लक्षणेते भेद नाई,
तबु काम प्रेम नाहि हय।
तुमित बरिले—काम, मिथ्या नहे 'प्रेम' नाम,
आरोपिले किसे शुभ हय ॥

तात्पर्य यह कि विषयीका कृष्ण-प्रेम और शुद्ध भक्तोंका कृष्ण-प्रेम एक जातीय पदार्थ नहीं है। अविवेकी पुरुषोंकी प्रीति कदापि 'कृष्णप्रेम' नहीं कही जा सकती। अविवेकीगण जो सख्य, वात्सल्य और मधुर रस-सम्बन्धी गान करते हैं, उससे जड़ेन्द्रिय तर्पण मात्र होता है; अप्राकृत कृष्णप्रेमानुरागीगण वैसे गानोंका आदर नहीं करते। रास्ता-घाट और बाजारमें राधाकृष्णके प्रेमके नाम पर जो गान या कीर्तन होता है, उसे शुद्ध कृष्णानुरागी प्रेमी भक्तजन कपट भक्तिका व्यापार मात्र जानकर उसका सर्वतोभावसे त्याग करते हैं।

जिस प्रकार कोई शराबी शराब पीकर ज्ञान-रहित पागल प्राय हो जाता है, जिस प्रकार कोई कामुक व्यक्ति हिताहित ज्ञानशून्य होकर उन्मत्त हो उठता है, उसी प्रकार प्राकृत सहजिया भी कृष्णप्रेम के नाम पर लोगोंको ठगने जाकर महाजनोंके गानों का यथार्थ तात्पर्य उपलब्धि न कर सकनेके कारण अपने भोगोंका अनुसंधान करते-करते अमङ्गलकी ओर ही अग्रसर होते हैं। वे जनसमूहकी प्रीति एव अपनी हरिविमुखताको ही कृष्णसेवा मानते हैं तथा कृष्णेतर विषयोंमें प्रीति-रहित साधु पुरुषोंको भी प्रीतिरहित अरसिक समझते हैं। ये लोग कभी-कभी अपनेको परम रसिक और प्रेमी सिद्ध करनेके लिये महाजन पदावलियोंका संकलन-कार्य भी करते हैं और उसमें उन पदावलियोंकी उलटी-सीधी मनमानी व्याख्यामें प्रचुर अविवेकताका परिचय देते हैं। भजनानन्दी पुरुषोंको ऐसे लोगोंके दुःसंगसे बचनेकी नितांत आवश्यकता है। "सिद्धान्त बलिया चिते ना कर अलस। इहा हैते कृष्णे लागे सुदृढ़ मानस।" —इत्यादि वाक्योंके विरोधी व्यक्ति आत्मवंचित होकर अमङ्गलके पथ पर धावित होते हैं। उनकी दुष्प्रवृत्तिका दमन करना ही शुद्ध भक्तोंका एकमात्र कर्त्तव्य है।

—ॐविष्णुपाद श्रीमद्भक्ति सिद्धान्त स्वरस्वती गोस्वामी

श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षा

[चतुर्थ परिच्छेद]

(गताङ्कसे आगे)

उक्त तीन शक्ति-प्रभावों द्वारा चिज्जगत्, जैव जगत् और जड़जगत् प्रादुर्भूत हुए हैं। उनमेंसे प्रत्येक प्रभावमें सन्धिनी, सम्वित् और ह्लादिनीरूपा तीन वृत्तियाँ लक्षित होती हैं। चिच्छक्तिमें जो सन्धिनी-वृत्ति होती है, उसके कार्यरूपमें चिद्धाम, चिदवयव और चिदुपकरण आदि सब प्रकारके चिद्-वैभव उदित हुए हैं। कृष्णनाम, कृष्णरूप, कृष्णगुण और कृष्णलीला—यह सब कुछ सन्धिनीका कार्य है। चिच्छक्तिगत सम्विद् वृत्ति कार्यस्वरूप समस्त चिन्तामणि-भावोंका उदय हुआ है। चिच्छक्तिकी ह्लादिनीवृत्तिके कार्यस्वरूप समस्त प्रेमानन्दानुशीलन होता है। जीवशक्तिमें जो सन्धिनीवृत्ति है, उसके कार्यस्वरूप जीवोंकी चिन्मय-सत्ता, नाम और स्थान आदिका उदय हुआ है। उसमें जो सम्वित्वृत्ति होती है, उसके कार्यस्वरूप ब्रह्मज्ञानका उदय होता है। तथा उसमें जो ह्लादिनीवृत्ति होती है, उसके कार्यस्वरूप ब्रह्मानन्द क्रियान्वित होता है। अष्टांग-योगगत समाधि-सुख या कैवल्यसुख भी उसीका कार्य है। मायाशक्तिगत सन्धिनीके कार्यस्वरूप चतुर्दश लोकमय, सम्पूर्ण जड़विश्व, बद्धजीवोंके स्थूल-लिङ्ग शरीर, बद्धजीवोंके स्वर्गादि लोक तथा उन लोकोंकी गतियाँ और सम्पूर्ण जड़-इन्द्रियाँ—से सब प्रकटित हैं। बद्धजीवोंके जड़ीय नाम, उनके जड़ीय रूप, जड़ीय गुण तथा जड़ीय कार्य भी उसीसे उत्पन्न हुए हैं। मायामें जो सम्वित्वृत्ति होती है, उससे जड़-बद्धजीवोंकी चिन्ता, आशा, कल्पना और विचार-समूह उदित हुए हैं। मायामें जो ह्लादिनी-वृत्ति होती है, उससे स्थूल-जड़ीय आनन्द तथा स्वर्ग आदिका सूक्ष्म जड़ानन्द—ये दोनों प्रकारके आनन्द उदित हुए हैं।

यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि सन्धिनी, सम्वित् और ह्लादिनी—ये तीनों वृत्तियाँ चित् शक्ति में निर्मल और निरुपाधिक रूपमें पूर्णताके साथ नित्य क्रियाशील रहती हैं। जीवशक्तिमें वे परमाणु-के रूपमें अतिशय अल्प परिमाणमें प्रकाशित होती हैं तथा मायाशक्तिमें विकृतरूपमें इन तीनों वृत्तियों-का आभास मात्र दिखलायी पड़ता है। जीवके लिये मायाकी वृत्तियाँ अतिशय हेय हैं। जीवशक्तिकी अपनी वृत्तियाँ हेय तो नहीं, परन्तु अप्रचुर हैं। चिद्शक्तिगत ह्लादिनीके संयोगके बिना जीव पूर्णा-नन्द लाभ नहीं कर सकता है। यह संयोग केवल कृष्णकृपा और कृष्णके कृपापात्रोंकी कृपा बिना कभी संभव नहीं है।

यहाँ इस विषयमें कतिपय कारिकाएँ उद्धृत की जा रही हैं—

विरोध-भंजिका-शक्तियुक्तस्य सच्चिदात्मनः ।
वर्तन्ते युगपद्धर्माः परस्पर-विरोधिनः ॥

सरूपत्वमरूपत्वं विभुत्वं मूर्तिमेव च ।
निर्लेपत्वं कृपावत्त्वमजत्वं जायमानता ॥
सर्वाराध्यत्वं गोपत्वं सार्वज्ञ्यं नर-भावता।
सविशेषत्व-सम्पत्तिस्तथा च निर्विशेषता ॥
सीमावद्-युक्तियुक्तानामसीम-तत्त्व-वस्तुनि।
तर्का हि विफलस्तस्माच्छ्रद्धाम्नायेफलप्रदा॥

सच्चिदानन्द-स्वरूप श्रीकृष्णमें अचिन्त्य विरोध-भंजिका नामक एक शक्ति है। उस शक्तिके प्रभावसे उनमें असंख्य परस्पर-विरोधी धर्म भी अविरोध-रूपमें युगपत् नित्य विराजमान हैं। श्रीकृष्णमें सरूपता और अरूपता, विभुता और श्रीविग्रह, निर्लेपता और भक्तवत्सलता, अजत्व और जन्मवत्ता, सर्वाराध्यत्व और गोपत्व, सर्वज्ञता और नर-भावता, सविशेषत्व आदि अनन्त परस्पर विरोधी धर्मसमूह सुन्दररूपमें अपना-अपना कार्य करते हुए ह्लादिनी महाभावमयी श्रीमती राधिकाकी सेवा-सहायतामें नियुक्त हैं। इस विषयमें जो तर्क करते हैं, वे नितांत मूर्ख एवं वंचित हैं। तर्क आरम्भ करनेके पूर्व ही ऐसा विवेचन करना उचित है कि मानव-युक्ति तो सहज ही सीमाविशिष्ट है; अतएव असीम-तत्त्व के सम्बन्धमें उसकी पहुँच कैसे सम्भव है। सौभाग्यवान व्यक्ति शुष्क तर्कको छोड़कर आम्नाय वाक्यों (गुरु-परम्परासे गृहीत वेद, उपनिषद्, पुराण, वेदान्त और उनके अनुगत शास्त्रोंके वचन) के प्रति श्रद्धा रखते हैं। उसी श्रद्धाबीजसे भक्तिलता अंकुरित होकर क्रमशः श्रीकृष्णके चरणरूप कल्पवृक्ष पर फैलकर पुष्पित-पल्लवित होती है तथा प्रेमफलको प्रदान करती है। इस विषयमें आम्नायवाक्य अनेक हैं। दो-एकका यहाँ उल्लेख किया जा रहा है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति
वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥
(श्वेताश्वतर ३।१९)

[भगवानके प्राकृत हाथ-पैर नहीं हैं, फिर भी वे सब कुछ ग्रहण करते हैं और सर्वत्र भ्रमण कर सकते हैं। उनके प्राकृत नेत्र नहीं हैं, फिर भी भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंका दर्शन करते हैं। प्राकृत कर्ण नहीं हैं, फिर भी सब कुछ सुनते हैं। वे समस्त ज्ञेय विषयोंको जानते हैं। परन्तु उनको कोई नहीं जान सकता है। ब्रह्मज्ञ पुरुष उनको आदि और महापुरुष बतलाते हैं।]

ईशावास्यमें भी कहा गया है—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वदन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तद् सर्वस्यास्य बाह्यतः॥
(५ और ८ मन्त्र)

[आत्मतत्त्व सचल भी है, अचल भी है, दूर भी है, और निकट भी। वह विश्वके अन्दर और बाहर सर्वत्र विराजमान है।

सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

[परमात्मा सर्वव्यापी, शुद्ध, अकाय, अक्षत, शिरारहित, उपाधिशून्य, मायातीत, कवि, सर्वज्ञ, स्वयंभू और परिभू हैं। वे अपनी अचिन्त्यशक्ति द्वारा नित्यपदार्थोंको उनके-उनके विशेषोंद्वारा पृथक-पृथक् रखा है।]

उक्त अचिन्त्यशक्तिका परिचय तलवकारने इस प्रकार दिया है —

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं । स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं तदेतद् यक्षमिति ॥ (३।६ मंत्र)

[देवासुर संग्राममें दानवोंको पराजित करनेके पश्चात् जब देवताओंको अहंकार हो गया, तब भगवान उनका अहङ्कार दूर करनेके लिए वहाँ उपस्थित हुए और अग्नि आदि देवताओंके सामने एक तृण रख दिये। अग्नि उस तृणके निकट पहुँच कर अपनी सारी शक्ति लगा कर भी उसे जला नहीं सके। अंतमें वहाँसे चुपचाप लौट कर अन्यान्य देवताओंसे बोले—'मैं इस वरेण्य पुरुषको नहीं पहिचान सका।'

विभु होने पर भी उनका विग्रह है। छान्दोग्यमें कहते हैं—

श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छामं प्रपद्ये ।
(८।१३।१)

[श्रीकृष्णकी स्वरूप शक्तिका नाम सबल है। श्रीकृष्णके आश्रयसे स्वरूप शक्तिके ह्लादिनीसार-भावका आश्रय करता हूँ और ह्लादिनीके सार-भावका आश्रय कर श्रीकृष्णका आश्रय करता हूँ।]

गोपालतापिनीमें भी—

गोपवेशं तत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम् ।
द्विभुजं मौनमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम् ॥
(पूर्व १३।१)

[गोपवेश, खिले हुए कमलके समान नेत्रवाले, नवीन मेघके समान कान्तिवाले, पीत वसनधारी, द्विभुज, मौन मुद्रायुक्त, वनमाला-विभूषित नन्दनन्दन श्रीकृष्णकी हम वन्दना करते हैं।]

शक्ति-तत्त्व के सम्बन्धमें श्रीचैतन्य चरितामृतके निम्नलिखित पयार आलोचनीय हैं—

कृष्णेर तीन शक्ति ताते तीन प्रधान ।
चिच्छक्ति, मायाशक्ति, जीवशक्ति नाम ॥
अन्तरंगा, बहिरंगा, तटस्था कहि जारे ।
अन्तरंगा स्वरूपशक्ति सबार ऊपरे ॥
सच्चिदानन्दमय कृष्णेर स्वरूप ।
अतएव स्वरूपशक्ति हय तीन रूप ॥
आनन्दांशे ह्लादिनी, सदंशे सन्धिनी ।
चिदंशे सम्वित् जारे ज्ञान करि मानि ॥
कृष्णके आह्लादे ताते नाम आह्लादिनी ।
सेई शक्तिद्वारे सुख आस्वादे आपनि ॥
सुखरूप कृष्ण करे सुख आस्वादन ।
भक्तगणे सुख दिते ह्लादिनी कारण ॥
ह्लादिनीर सार अंश तार प्रेम-नाम ।
आनन्द चिन्मयरस प्रेमेर आख्यान ॥
प्रेमेर परम सार महाभाव जानि ।
सेई महाभावरूपा राधा ठकुरानी ॥
(म० ८।१५१–१६०)

उस अचिन्त्य स्वरूपशक्तिके कार्यक्रमके अनुसार इच्छामय श्रीकृष्ण अपने धाम और परिकर (पार्षदों) के साथ प्रापंचिक जगत्में स्वयं अवतीर्ण होते हैं। अपनी असीम कृपासे वे अपने अप्राकृत धाम, नाम, रूप, गुण और लीलाको बद्धजीवोंके सामने भी प्रकाश करते हैं। बद्धजीव अपनी जड़ेन्द्रियों से भगवानके रूपादिका साक्षात्कार करनेमें असमर्थ हैं।

परन्तु भगवानकी अचिन्त्यशक्तिके प्रभाव एवं उनकी कृपासे उन्हें जड़ेन्द्रियों द्वारा भी साक्षात्कार करनेमें समर्थ हो जाते हैं। भगवान कभी-कभी अपने स्वांश-द्वारा मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, राम आदि अनेक रूपोंमें अवतार लेकर लीलाएँ करते हैं। इस विषयमें तत्त्व यह है कि श्रीकृष्ण अवतारी हैं और उपरोक्त प्रकाश-समूह सभी अवतार हैं। स्वयं अथवा स्वांश अवतार समूह—सभी चिन्मय हैं। उनमेंसे कोई भी मायाकी सहायतासे प्रकृत शरीर नहीं धारण करते। कभी-कभी उपयुक्त जीवोंमें कृष्णशक्तिका आवेश भी होता है जिसे शक्त्यावेशावतार कहते हैं। जैसे—नारद, व्यास, पृथु आदि। श्रीचैतन्य-चरितामृतमें अवतारके सम्बन्धमें इस प्रकार उपदेश है—

'प्राभव-वैभव रूपे द्विविध प्रकाश।'
'प्राभव-वैभव भेदे विलास द्विधाकार॥'
प्रकाश-विलासेर एइ कैल विवरण।
स्वांशेर भेद एबे सुन सनातन॥
संकर्षण, मत्स्यादिक,—दुई भेद तांर।
अवतार हय कृष्णेर षड़विध प्रकार॥
पुरुषावतार एक, लीलावतार आर।
गुणावतार आर, मन्वन्तरावतार आर।
युगावतार आर, शक्त्यावेश अवतार॥

(म० २०।१६७,१८५,२४३-४६)

अवतार तत्त्वका विस्तृत विवरण चैतन्य-चरितामृत मध्य लीलाके २०वें परिच्छेदमें तथा श्रीभागवतामृत ग्रन्थमें द्रष्टव्य है।

—ॐविष्णुपाद श्रीमद्भक्ति विनोद ठाकुर।

व्रजमें उद्धवकी

ऊधो मोह तङ्गनिमें, रंगनि के डोरे बँधि,
सधि-सधि मनको पतंग उड़ि जात है।
कहै कमलाकर उड्योई चल्यौ जात पुनि,
सूधो बढ़ि व्रजकी हवा में चढ़ि जात है॥
हाथ सल आत ना अगाड़ी सधि पात नाहिं,
साधे लुड़ि जात गुड़ि जात मुड़ि जात है।
गुड़ि गुड़ि पहुँच कदम्ब औ करीलन पै,
मुड़ि मुड़ि गोपिन के हाथ परिजात है॥

—श्रीकमलाकर 'कमल'

उपनिषद्-वाणी

(छान्दोग्य--९)

अब इस ब्रह्मपुरके भीतर जो सूक्ष्म कमलाकार स्थान है, उसमें जो सूक्ष्म आकाश है और उस आकाशके भीतर जो वस्तु है, उसका अन्वेषण करना चाहिये । यदि शिष्य उस वस्तुकी जिज्ञासा करे तो आचार्यको ऐसा उत्तर देना चाहिये—जितना यह भौतिक आकाश है, उतना ही हृदयान्तर्गत आकाश है । द्युलोक और पृथ्वी—ये दोनों ही उसके भीतर स्थित हैं। इनके अतिरिक्त वायु, अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा विद्युत, नक्षत्र एवं इस लोकमें जो कुछ है, वह सभी इस हृदयाकाशमें अवस्थित है। अब ऐसा प्रश्न हो कि यदि इस ब्रह्मपुरमें यह सब समाहित है तो जिस समय यह वृद्धावस्थाको प्राप्त होता है अथवा नष्ट हो जाता है, उस समय क्या शेष रहता है ? इसका उत्तर यह है—इस देहकी वृद्धावस्थासे आकाशाख्य ब्रह्म जीर्ण नहीं होता, देहके वधसे उसका विनाश नहीं होता। यह ब्रह्मपुर सत्य है अर्थात् नित्य है। इसमें सम्पूर्ण कामनाएँ सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं। यही आत्मा है, यह धर्माधर्म शून्य, जरारहित, मृत्युरहित, शोक रहित, भोजनेच्छारहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है।

इस लोकमें यदि कोई प्रजा राजाकी आज्ञानुवर्तिनी होती है तो उसकी सारी अभिलाषाएँ पूर्ण हो जाती हैं, वह जहाँ जाना चाहती है वहीं पहुँचनेका सौभाग्य प्राप्त कर लेती है । जिसप्रकार इस लोकमें कर्म द्वारा प्राप्त भोग अथवा लोक नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार परलोकमें पुण्यार्जित लोक भी नष्ट हो जाता है। इस लोकमें आत्म-विज्ञान अथवा सत्यकामनाके बिना परलोक गमनमें यथेच्छगति नहीं होती, परन्तु जो व्यक्ति लोकमें आत्मा और सत्य-कामनाओंको जानकर परलोक गमन करते हैं, उनकी समस्त लोकोंमें स्वेच्छा गति होती है। वह व्यक्ति यदि पितृलोककी कामना करता है तो वह संकल्पमात्रसे ही पितृलोकमें उपस्थित हो सकता है और वहाँ पितृलोकसे सम्पन्न होकर महिमान्वित होता है । वह यदि मातृलोक, भ्रातृलोक, भगिनीलोक, सखालोक, गन्धमाल्यलोक, अन्नपान सम्बन्धीलोक, गीतवाद्य सम्बन्धीलोक अथवा स्त्रीलोककी कामना करता है तो कामना करनेके साथ ही वह उन-उन लोकोंमें पहुँच जाता है—तथा वहाँ उनसे सम्पन्न और महिमान्वित होता है। तात्पर्य यह कि आत्माको जाननेवालेकी सब प्रकारकी कामनाएँ संकल्प मात्रसे ही पूर्ण हो जाती हैं । ब्रह्म को प्राप्त होनेपर सबकुछ प्राप्त हो जाता है।

यह ब्रह्मपुर सत्यवस्तु होने पर भी अनृतके आच्छादनसे युक्त है । क्योंकि इस लोकमें जो मरते हैं, वे मरनेके पश्चात् पुनः अपने पूर्ववासस्थानको या अपने जीवितावस्थाके माता-पिता, भाई-पुत्र आदिको देख नहीं पाते अथवा वे अपने पूर्वावस्थाके व्यवहृत द्रव्योंको भी देख नहीं पाते । इसका कारण यह है

कि यहाँ सभी कुछ अनृतसे आच्छादित है । यहाँ सब कुछ नश्वर है, अतएव अनित्य है । जिस प्रकार पृथ्वीके भीतर दबी हुई सोनेकी खानके ऊपरसे कोई अनभिज्ञ पुरुष बार-बार आवागमन करने पर भी उस सोनेकी खानका पता नहीं रखता, उसी प्रकार इस शरीरमें ब्रह्मपुर (आत्मा) रहने पर भी अज्ञ व्यक्ति उसे नहीं जानता, क्योंकि वह (ब्रह्मपुर) अनृतसे ढका हुआ है । नित्यवस्तुका ज्ञान हो जाने पर किसी भी पदार्थके ज्ञानका अभाव नहीं रहता अर्थात् सबकुछ ज्ञात हो जाता है ।

यह आत्मा हृदयमें स्थित है । "हृदि अयम्"— इस निरुक्तिके अनुसार 'हृदय'-शब्द निष्पन्न हुआ है, अर्थात् वह हृदयमें विद्यमान है । जो ऐसा जान लेते हैं, वे स्वर्गलोकमें गमन करते हैं । स्वर्गका अर्थ है— वैकुण्ठ; 'स्वे स्वर्गे गीयते' अर्थात् स्वर्गमें जिसकी महिमाका गान होता है, उसीका नाम स्वर्ग है । इन्द्रलोक यथार्थ स्वर्गलोक नहीं है । इन्द्रलोक अनित्य है । यह जो सम्प्रसाद है, वह इस शरीरसे उत्थान कर परम ज्योतिको प्राप्त हो अपने स्वरूपसे मुक्त हो जाता है । यह अमृत एवं अभय है, यही ब्रह्म है । इसी ब्रह्मका दूसरा नाम सत्य भी है । सत्यमें तीन अक्षर हैं—स, त और य । स-कार अमृत है, त-कार मर्त्य है तथा य-कार दोनोंका नियामक है । अतएव य-कारका ज्ञान प्राप्त करने वाला नित्य स्वर्ग-- वैकुण्ठमें गमन करनेमें समर्थ है ।

यह आत्मा इन लोकोंके असम्भेद अर्थात् पारस्परिक असंघर्षके लिए इन्हें विशेषरूपसे धारण करनेवाला सेतु है । इस सेतुका दिन रात अतिक्रमण नहीं करते । जरा, मृत्यु, शोक, सुकृत या दुष्कृत उसे स्पर्श नहीं कर पाते; क्योंकि यह ब्रह्मलोक निष्पाप है । पापी पुरुषोंमें परस्पर संघर्ष होता रहता है । वे जरा-मृत्यु और शोक आदिके वशीभूत होते हैं तथा पाप और पुण्यके फलके कारण ब्रह्मपुरको प्राप्त नहीं होते । अतएव ब्रह्मपुरको प्राप्त करनेवाला व्यक्ति सर्वथा निष्काम होता है । इसलिये इस सेतुका अतिक्रमण कर लेने पर अतिक्रमण करनेवाला अन्ध होने पर भी दृष्टि-शून्य नहीं होता है, विद्ध होने पर भी अविद्ध होता है तथा उपतापी होने पर भी अनुतापी होता है । इस सेतुको पार कर लेने पर अन्धकार पूर्ण रात्रि भी दिन ही हो जाती है । क्योंकि ब्रह्मलोक सदा प्रकाशशील होता है, वहाँ अन्धकार का अभाव होता है ।

इस ब्रह्मलोकका ज्ञान शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे अनुष्ठित ब्रह्मचर्य द्वारा ही हो सकता है । ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाला ब्रह्मलोकको प्राप्त कर लेता है और उसकी समस्त लोकोंमें यथेच्छ गति हो जाती है । केवल मात्र वीर्यधारणको ही ब्रह्मचर्य नहीं कहते । यदि ऐसा हो तो नपुंसक व्यक्तिको ब्रह्मचारी कहा जाता और वह भी ब्रह्मको प्राप्त कर लेता । वास्तवमें ब्रह्ममें विचरण करनेवाला व्यक्ति ही ब्रह्मचारी है । ब्रह्मका अनुशीलन करनेवाला अन्याभिलाषारहित, ज्ञान-कर्मादिशून्य शुद्ध भक्तिका साधक ही सच्चा ब्रह्मचारी है ।

जिसे यज्ञ कहते हैं, वही ब्रह्मचर्य है । ब्रह्मचर्यसे ही ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है । परम पुरुषार्थ साधन का नाम यज्ञ है । प्रेम भक्ति ही परम पुरुषार्थ है । जिसे इष्ट कहा जाता है, उसे भी ब्रह्मचर्य कहते हैं । क्योंकि ब्रह्मचर्य द्वारा पूजा करनेसे ही आत्माकी

प्राप्ति होती है। सत्रायनको भी ब्रह्मचर्य कहते हैं; ब्रह्मचर्य द्वारा सत् अर्थात् परमात्मासे अपना त्राण प्राप्त करता है। इसीलिये सत्रायण नाम पड़ा है। मौनको भी ब्रह्मचर्य कहते हैं; क्योंकि ब्रह्मचर्य द्वारा ही मनन करनेवाला व्यक्ति (अन्यान्य विषयोंमें मौन धारण कर) आत्माको जान सकता है। अनाशकायन (जिसका नाश नहीं होता) को भी ब्रह्मचर्य कहते हैं; क्योंकि ब्रह्मचर्य द्वारा प्राप्त आत्माका विनाश नहीं होता।

जिसे अरण्यायण कहते हैं, वह भी ब्रह्मचर्य है, क्योंकि इस ब्रह्मलोकमें "अर और "एय"—ये समुद्र हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ से तीसरे द्यु लोकमें एरंमदीय सरोवर है, सोमसवन नामका अश्वत्थ है, वहाँ ब्रह्मा की अपराजितापुरी और प्रभुका विशेषरूपसे निर्माण किया हुआ सुवर्णमय मण्डप है। जो लोग ब्रह्मचर्य द्वारा इन 'अर' और 'एय' दोनों समुद्रोंको प्राप्त करते हैं उन्हींको इस ब्रह्मपुरीकी प्राप्ति होती है। उनकी समस्त लोकोंमें स्वच्छन्द गति होती है।

हृदयकी नाड़ियाँ पिङ्गल वर्ण सूक्ष्म रसयुक्त हैं तथा वे शुक्ल, नील, पीत और लोहित वर्णकी हैं। जिस प्रकार कोई विस्तीर्ण महापथ इस (समीपवर्ती) और उस (दूरवर्ती) दोनों गाँवोंको जाता है, उसी प्रकार इस चित् सूर्यकी किरण इस पुरुषमें और सूर्यमण्डलमें दोनों ही लोकोंमें वर्तमान है। वहाँ वे उस आदित्यसे निकल नाड़ियोंमें व्याप्त हैं और नाड़ियोंसे निकल कर आदित्यमण्डलमें व्याप्त हैं। सुखपूर्वक निद्रित पुरुष जब कोई स्वप्न नहीं देखता, तब वह नाड़ियोंमें विचरण करता है। उस समय कोई भी पाप उसे स्पर्श नहीं कर पाता। तब वह तेज से व्याप्त रहता है। फिर जब जीव शरीरकी दुर्बलता को प्राप्त होता है अर्थात् शरीरमें आसक्त होता है, तब उसके बन्धुजन उसको अपनी-अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। ऐसी दशामें वह जीव भगवद्विमुख होकर स्वजन-पालन आदिको ही स्वधर्म मान बैठता है। परन्तु जब वह शरीरसे उत्क्रमण करता है, उस समय वह इन किरणोंके सहारे ही ऊपरकी ओर चढ़ता है। 'ॐ'—इसके ध्यान द्वारा ऊर्ध्वलोक अथवा अधोलोकको जाता है। मनकी गतिके अनुसार अर्थात् संकल्पमात्रसे ही ध्यान करनेवाला आदित्यलोकमें उपस्थित हो जाता है। आदित्यको लोक-द्वार कहते हैं। वह विद्वान् पुरुषोंके लिये ब्रह्मलोक प्राप्तिका द्वार है और अविद्वानोंका निरोध स्थान है। हृदयमें एक सौ एक नाड़ियाँ हैं। उनमेंसे एक मस्तककी ओर गयी है। उसके द्वारा उर्द्धगामी जीव अमरत्वको प्राप्त होता है। शेष इधर-उधर जाने वाली नाड़ियाँ केवल उत्क्रमणका कारण होती हैं, उनसे अमरत्वकी प्राप्ति नहीं होती।

इन्द्र और विरोचनके प्रति प्रजापतिका उपदेश

जो आत्मा पापशून्य, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, क्षुधारहित, पिपासारहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है--इन आठ गुणोंसे युक्त है, उसीका अनुसंधान करना कर्त्तव्य है। जो शास्त्र और गुरुके उपदेशानुसार आत्माको खोजकर जान लेता है, वह सम्पूर्ण लोक और समस्त कामनाओंको प्राप्त कर लेता है--यह उक्ति प्रजापतिकी है।

प्रजापतिके इस वाक्यको देवता और असुर दोनों ने ही परम्परासे श्रवण किया। वे कहने लगे—'हम उस आत्माको जानना चाहते हैं, जिसे जान लेने पर सम्पूर्ण लोकों और समस्त भोगोंकी प्राप्ति होती है'--

ऐसा निश्चयकर देवताओंके राजा इन्द्र और असुरोंके राजा विरोचन--ये दोनों ही परस्पर ईर्ष्या करते हुए हाथोंमें समिधाएँ लेकर प्रजापतिके पास पहुँचे। उन्होंने वहाँ बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालनपूर्वक वास किया। तब प्रजापतिने उनसे पूछा--'तुम लोग यहाँ रह कर किस उद्देश्यसे ब्रह्मचर्यका पालन कर रहे हो ?' उन्होंने कहा—'हमलोग पापरहित, जरा-रहित, मृत्युरहित, शोकरहित, क्षुधाशून्य, पिपासा-शून्य, सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प आत्माको जानना चाहते हैं, जिसके जाननेसे सम्पूर्ण लोकों और समस्त भोगोंकी प्राप्ति होती है।' ऐसा सुनकर प्रजापतिने कहा--'जो पुरुष नेत्रोंमें दिखायी देता है, वही आत्मा है, वही अमृत है, अभय है।' तब दोनोंने पूछा—'भगवन्, यह जो जलमें सब ओर प्रतीत होता है तथा दर्पणमें दीख पड़ता है, उनमें आत्मा कौन सा है ?' प्रजापतिने उत्तर दिया--'मैंने जस नेत्रान्तर्गत पुरुषका वर्णन किया है, वही इन सबमें सब ओर प्रतीत होता है। जलसे पूर्ण पात्रमें देख कर तुमलोग आत्माके विषयमें ज्ञात होओ।' दोनोंने जलसे भरे पात्रमें देखा। प्रजापतिने पूछा—क्या देख रहे हो ?' उन्होंने उत्तर दिया—'भगवन्! हम लोग जिस प्रकार सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हैं, ठीक उसी वेश भूषामें अलंकृत अपने ही प्रतिबिम्बको देख रहे हैं।' प्रजापतिने कहा—'यही आत्मा है, यह अमृत और अभय है। ऐसा सुनकर वे दोनों शान्तचितसे चले गये।

प्रजापतिने उन दोनोंको दूर गया देख कर मन-ही-मन सोचा—'ये आत्माका साक्षात्कार किये बिना ही चले जा रहे हैं। इस विषयमें यथार्थका निश्चय नहीं होने पर उनका पराभव अवश्यंभावी है।

असुरराज विरोचन शान्तचित्त होकर असुरोंके पास लौट कर उनको आत्म-विद्याके सम्बन्धमें उपदेश किया—'इस लोकमें शरीर ही पूजनीय और सेवनीय है। इसकी पूजा और परिचर्या करनेवाला पुरुष इस लोक और परलोक दोनों लोकोंको प्राप्त कर लेता है।' असुरगण विरोचनके मुखसे वैसा सुनकर उसीके अनुरूप आचरण करने लगे—शरीरको ही आत्मा मान कर उसीके सुखके लिये ही सब कुछ करने लगे। इस प्रकार वे बड़े ही आरामतलब हो पड़े। इसीसे ऐसी जनश्रुति है कि 'इसलोकमें जो दान नहीं करता, श्रद्धापूर्वक भजन नहीं करता, तो उसे लोग असुर-स्वभाववाला कहते हैं। वे मृतक शरीरको ही वस्त्रा-लंकारोंसे सुसज्जित करते हैं और उसके द्वारा परलोक प्राप्ति की आशा करते हैं।

इधर देवराज इन्द्रने प्रजापतिके निवास स्थानसे कुछ दूर जाने पर यह विचार किया--'जिस प्रकार यह शरीर अच्छी तरहसे अलंकृत होनेपर जल या दर्पणमें वैसा ही दिखलायी पड़ता है, सुन्दर वस्त्र धारण करने पर उसी प्रकारका दिखलायी पड़ता है, उसी प्रकार शरीरके अन्धे होनेपर, खण्डित होनेपर प्रतिबिम्ब भी अन्धा और खण्डित दिखलायी पड़ता है, तथा शरीरके विनाश हो जानेपर प्रतिबिम्ब भी नष्ट हो जाता है। अतएव जरा और मरणसे युक्त शरीर भला जरारहित तथा मृत्युरहित आत्मा कैसे हो सकता है ?' ऐसा विचार कर वे पुनः प्रजा-पतिके पास पहुँचे। प्रजापतिने इन्द्रको अपने निकट आया देख कर पूछा--'देवराज ! तुम पुनः मेरे पास क्यों लौट आये ? इन्द्रने कहा--'भगवन् ! मैं आत्माके विषयमें आपके उपदेशको भलीभाँति समझ

नहीं सका हूँ । शरीरकी छाया और आत्मामें प्रचुर पार्थक्य दिखलायी पड़ता है । शरीरकी सेवासे आत्माकी सेवा नहीं होती—ऐसा जान पड़ता है । शरीर नाशवान है, परन्तु आत्मा तो नाशरहित है । पूर्वोक्त उपदेशसे मुझे इष्ट फलकी प्राप्ति होती नहीं दिखलायी पड़ती ।'

इन्द्रकी बात सुनकर प्रजापतिने कहा—'तुम ठीक ही कह रहे हो । मैं पुनः तुमको आत्माका उपदेश करूँगा । तुम अभी और बत्तीस वर्षतक ब्रह्मचर्यका पालन करो । इन्द्र और बत्तीस वर्षतक ब्रह्मचर्यका पालन कर पुनः प्रजापतिके पास उपस्थित हुए । तब प्रजापतिने उनको उपदेश दिया—'जो यह स्वप्नमें पूजित होता हुआ विचरण करता है, वही अमृत है, अभय है और वही आत्मा है ।' ऐसा सुनकर इन्द्र शान्त हृदयसे चले गये । परन्तु देवताओंके पास पहुँचनेके पहले मार्गमें ही विचार करने लगे—'अभी भी प्रजापतिका उपदेश ठीक समझमें नहीं आ रहा है । यद्यपि यह शरीर अन्धा होता है तो भी स्वप्न-शरीर अनन्ध होता है तथा शरीरके रुग्ण या विनाश होने पर भी वह अरुग्ण एवं अवध्य रहता है; परन्तु फिर भी स्वप्न शरीरको कोई मारता है तो रोता है, अप्रियका अनुभव करता है जो प्रजापतिके द्वारा कथित शोक रहित, पिपासादि रहित आत्माके सम्बन्धमें असम्भव है । अतः इस प्रकारके आत्म-दर्शनसे (स्वप्न शरीरको आत्मा माननेमें) मैं कोई फल नहीं देखता ।' ऐसा सोच कर इन्द्र पुनः प्रजापतिके पास लौट आये । प्रजापतिकी आज्ञानुसार और भी बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्यका पालन कर पुनः उनके पास उपस्थित हुए । तब प्रजापतिने इस प्रकार उपदेश किया—'जिस अवस्थामें पुरुष सोया हुआ दर्शन प्रवृत्तिसे रहित और सम्यक् रूपसे आनन्दित हो स्वप्नका भी अनुभव नहीं करता, वह आत्मा है।' ऐसा सुनकर इन्द्र चले गये; परन्तु इससे भी सन्तुष्ट न होकर इस प्रकार सोचने लगे—'उस अवस्थामें इसे निश्चय ही यह भी ज्ञान नहीं होता कि "यह मैं हूँ' और न वह अन्य भूतोंको ही जानता है, उस समय तो यह मानो विनाश प्राप्तकी अवस्थाकी भाँति हो पड़ता है । अतएव ऐसे आत्म-दर्शनसे भी मुझे इष्टफलकी प्राप्ति होती नहीं दिखलायी पड़ती ।' ऐसा विचार कर वे फिर प्रजापतिके पास आये ।

इस बार प्रजापतिने उनको पाँच वर्ष और ब्रह्मचर्य-धारणपूर्वक वहाँ वास करनेकी आज्ञा दी । इन्द्र और भी पाँचवर्ष तक ब्रह्मचर्यपूर्वक वास करनेके पश्चात् पुनः प्रजापतिके पास आये । तब प्रजापतिने उनको इस प्रकार उपदेश दिया—'इन्द्र ! यह शरीर मरणशील है; परन्तु इसमें अमृत अशरीरी आत्माका अधिष्ठान है । इस शरीरमें आत्मबुद्धियुक्त आत्मा प्रिय और अप्रिययुक्त होता है । परन्तु देहा-भिमान शून्य जड़ शरीररहित शुद्ध आत्माके लिये प्रिय-अप्रिय कुछ भी नहीं है । वायु, अभ्र, विद्युत और मेघध्वनि—ये सब अशरीरी हैं । जिसप्रकार ये सब आकाशसे उत्थित होकर सूर्यकी परम ज्योति को प्राप्त होकर अपने स्वरूपमें स्थित हो जाते हैं, उसी प्रकार आत्मा भी शरीरसे उत्थित होकर परम ज्योतिको प्राप्त होकर स्व-स्वरूपमें स्थित हो जाता है। उस समय वह हँसता है,क्रीड़ा करता है और आत्मीय स्वजन तथा जड़ शरीर आदिका स्मरण भी न कर सर्वत्र विचरण करता है । जिस प्रकार घोड़ा या बैल गाड़ीमें जुता रहता है, उसी प्रकार यह प्राण इस शरीरमें जुता हुआ है ।

इस शरीरमें आत्माका अधिष्ठान है । जो ऐसा अनुभव करता है कि मैं रूप देखूँ, वह आत्मा है; उसके रूप-ग्रहणके लिये नेत्र हैं । जो ऐसी कामना करता है कि मैं सूँघूँ, वह आत्मा है; उसके गन्ध-ग्रहणके लिये नासिका है। जो ऐसा चाहता है कि मैं बोलूँ, वह आत्मा है; उसके शब्दोच्चारणके लिये वाक् इन्द्रिय है । जो ऐसा अनुभव करता है कि मैं श्रवण करूँ, वह आत्मा है; उसके श्रवण करनेके लिये श्रोत्रेन्द्रिय हैं और जो यह जानता है कि मैं मनन करूँ, वह आत्मा है; उसके मनन करनेके लिये मन है । मनके द्वारा ही आत्मा विषयोंमें रमण करता है। इस शरीरमें स्थित आत्मा नेत्र-कर्ण आदि इन्द्रियोंद्वारा अनुभव करता है—इन इन्द्रियोंद्वारा अनुभव करनेवाला आत्मा शरीरमें स्थित होकर शरीरमें ही आत्मबुद्धि करने लगता है। परन्तु वैसे अनुभवके वशीभूत न होकर जो लोग शास्त्र और गुरुके उपदेशोंके प्रति श्रद्धायुक्त होकर आत्माका साक्षात्कार लाभ करते हैं, उनका शरीरमें आत्मबुद्धि नहीं रहती । उनकी सारी कामनाएँ और सम्पूर्ण भोग संकल्प मात्रसे स्वयं प्राप्त हो जाते हैं । तब वे सर्वथा पापमुक्त होकर निर्मल आत्मज्ञानसे कृतकृतार्थ हो जाते हैं । उस समय वे ऐसा जान पाते हैं कि श्याम द्वारा शबल एवं शबल द्वारा श्यामको प्राप्त होता हूँ । अर्थात् स्वरूप शक्ति श्रीमती (शबल=स्वरूप-शक्ति श्रीमतीराधिकाजी) के आनुगत्यमें श्रीश्याम-सुन्दरका साक्षात्कार होता है तथा श्यामसुन्दरकी कृपासेही स्वरूपशक्तिकी शरणागति प्राप्त होती है ।' —ऐसा कहकर प्रजापति चुप हो गये । देवराज इन्द्र भी कृतकृत्य होकर प्रजापतिके चरणोंमें मस्तक झुका कर देवताओंके पास लौटे ।

इस पूर्वोक्त आत्मज्ञानको ब्रह्मके निकट प्रजापतियोंने, प्रजापतियोंसे मनुने और मनुसे प्रजाओंने श्रवण किया । नियमानुसार गुरुकुलमें वासकर श्रद्धा पूर्वक गुरुसेवा और वेदोंका अध्ययन करके वहाँसे समावर्तन करके, इन्द्रियोंका दमन कर, प्राणी हिंसासे रहित होकर, पवित्र स्थानमें स्वाध्याय करते हुए आयुकी समाप्ति पर्यन्त परब्रह्मका ध्यान करने पर देहत्यागके पश्चात् ब्रह्मलोककी अवश्य ही प्राप्ति होती है । वहाँसे फिर पुनरागमन नहीं होता ।

—त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिभूदेव श्रौती महाराज

श्रीहरिनाम माहात्म्य—

अंहः संहरदखिलं सकृदुदयादेव सकललोकस्य ।
तरणिरिव तिमिरजलधिं जयति जगन्मंगलं हरिर्नाम ॥

—पद्यावली

श्रीहरिका नाम एक बार उच्चारण मात्रसे ही जीवमात्रके सम्पूर्ण पापोंको उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जिस प्रकार सूर्यदेव उदय होने मात्रसे ही सम्पूर्ण अन्धकारको नष्टकर देते हैं । अतएव जगत्में मंगलप्रद श्रीहरिनामकी जय हो ।

वृन्दावनकी पृष्ठभूमि

[गताङ्क पृष्ठ १३९ से आगे]

आनन्दकन्द भगवान् श्रीवृन्दावन - बिहारीकी सुमधुर लीला, उपासना, गुण, स्वरूप एवं माधुर्य्यके एक मात्र केन्द्र इस वृन्दावनकी महिमा इतनी अगाध है कि समस्त देवगण इसे नमस्कार करते हैं। यह मनोहर वन एक साथ ही षट् ऋतुओंके नाना पुष्पोंसे सुशोभित है । कालिन्दीकी पावन उत्ताल तरंगोंसे यहाँकी वायु शीतल, मन्द और सुगन्ध गुण सम्पन्न है। रसिकोंके हृदयको आकर्षित करने वाले विकसित सुमनोंसे लदी हुई लतिकाओं द्वारा आवेष्ठित वृक्षावली से सुशोभित, सूर्य-चन्द्रके समानोदय तेज प्रदीप्त, उत्पल, कह्लारादि कमलोंके मकरन्दसे अभिरंजित, शाखामृग और हरिणोंके समूहसे सेवित व्रजके १२ वनोंसे सुसमृद्ध तथा वैकुण्ठसे भी अधिक सुखद, चारों ओरसे इन्द्रादि देवोंसे अधिष्ठित श्रीवृन्दावनकी यह रत्नभूमि सहस्रों सूर्योंकी प्रभावाली है । यहाँ नानाप्रकारके रत्नोंके प्रकाशसे जाज्वल्यमान माणिक्य शिखरोंके समान मण्डप हैं, विकसित पुष्पावलियोंके वितान हैं, रत्नोंके तोरण और गोपुरादि हैं, सुन्दर चमचमाती हुई मणि-माणिक्योंकी झालरें हैं। कोटि-कोटि दीवारोंके समान प्रभायुक्त, बुभुक्षा, पिपासा, मोह, शोक, जीवन और मृत्यु इन छः संसारिक क्लेशोंसे मुक्ति दायक यह वृन्दावन है । (देखिये गौतमीय तन्त्र ४।१-१६)।

श्री श्यामा - श्याम दोनों किशोर - किशोरी हैं, उनकी अष्ट सखियाँ भी किशोरी ही हैं, श्रीयुगल किशोरका श्रीवृन्दावनमें नित्य निरन्तर विहार होता रहता है। श्रीमती राधिकाजीकी कला ही श्रीकिशोर भगवान्‌की गोपियाँ हैं—

किशोरी सुन्दरी राधा किशोरः श्यामसुन्दरः ।
किशोर्यो व्रज सुन्दर्यो: विहरन्ति निरन्तरम् ॥
नित्यं वृन्दावने राधा राधाकृष्णश्च गोपिकाः ।
गोपालवल्लभा गोप्यो राधिकायाः कलात्मिकाः ॥

(रासोल्लास तंत्र ६०,६४)

बारह संख्यासे प्रसिद्ध वृन्दादेवीसे परिरक्षित यह वृन्दावन समस्त पापोंको नष्ट करने वाला और श्रीभगवानको अत्यन्त प्रिय है। गोप-गोपियोंके साथ इन वनमें रसिक शिरोमणि श्रीकृष्ण अपने मनमोहक किशोर स्वरूपमें नित्य रमण एवं विविध लीलाएँ करते हैं। इस प्रकार अत्यन्त सुखद, देव-दानवोंको भी दुर्लभ यह महामहिम वृन्दावन है—

वृन्दावनं द्वादशकं वृन्दया परिरक्षितम् ।
मम चैव प्रियं भूमे सर्व पातक नाशनम् ॥
तत्राहि क्रीडयिष्यामि गोपी गोपलकैः सह ।
सुरम्यं सुप्रतीतं च देवदानव दुर्लभम् ॥

(श्रीवृन्दावनस्य आदि बारहि)

समस्त लोकोंमें व्रज श्रेष्ठ है । इस व्रजभूमिमें जिस व्रजेश्वरीका निर्माण त्रिपथगामिनी गंगा और शारदाके सम्पूर्ण आमोद-प्रमोद-तत्वोंके सम्मिश्रणसे हुआ, जिसके दर्शन मात्रसे महापातकोंके समूह नष्ट हो जाते हैं और जिसके कटाक्षमात्रसे ही इस विश्व-की समस्त विभूतियोंका सर्जन होता है एवं जो "व्रज चन्दजूकी चन्द्रिका, अमन्द व्रजमन्दिरकी देवी, व्रज बन्द्य व्रज सुन्दरी" हैं, वे श्रीराधारानी सर्वश्रेष्ठ हैं, श्रीवृन्दावन उनका विनोद - स्थल है, वे सदैव श्रीवृन्दावनमें ही विराजती हैं—

ब्रजेश्वरी ब्रजश्रेष्ठा वृन्दावन विनोदनी ।
वृन्दा वृन्दावन प्राण वृन्दावन स्थिता सदा ॥
(उर्ध्वाम्नाय तंत्र-राधा सहस्रनाम)

श्रीवृन्दावनके वृक्षभी अत्यन्त रहस्यमय हैं । उनके "डार डार अरु पातमें राधे राधे होय" की मधुर ध्वनि सुनाई पड़ती है ।

श्रीगौड़ीय वैष्णवाचार्योंने श्रीवृन्दावनका अतुलनीय परिष्कार एवं मार्मिक विवेचन प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार प्राकृत सृष्टिके ऊपर अखिल वैकुण्ठ धाम है । वैकुण्ठके उपरिभागमें श्रीकृष्णलोक है । इस कृष्णलोकमें तीन स्तर हैं—द्वारका, मथुरा और गोकुल । इनमें गोकुलकी स्थिति सर्वोपरि है । गोकुलको ही ब्रजधाम, श्वेतद्वीप, गोलोक एवं वृन्दावन भी कहते हैं—

सर्वोपरि श्रीगोकुल—ब्रजलोक धाम ।
श्रीगोलोक, श्वेतद्वीप, वृन्दावन नाम ॥
(श्रीचैतन्यचरितामृत ५।११७)

परन्तु श्रीरूपगोस्वामी और श्रीजीवगोस्वामीने शास्त्रीय वचनोंको उद्धृत कर एक अतिशय गोपनीय रहस्यका उद्घाटन किया है कि उपर्युक्त सर्वोत्तम एवं सर्वोपरि श्रीकृष्णधामके पाँच नामोंमेंसे श्रीगोकुल, ब्रजलोक और वृन्दावन—ये तीन नाम एक धामके पर्याय है तथा गोलोक और श्वेतद्वीप—ये दो नाम दूसरी श्रेणीके पर्यायवाची नाम हैं । यद्यपि गोकुल और गोलोक अभिन्न हैं (अतएव वृन्दावनं गोकुलमेव सर्वोपरि विराजमानं गोलोकत्वेन प्रसिद्धम्—श्रीजीव गोस्वामीकृत श्रीकृष्ण - सन्दर्भ—१०६), फिर भी लीलाप्रकाशकी दृष्टिसे गोलोक—वृन्दावन या गोकुलका ही वैभव या बहिर्मण्डल कहा गया है—'चतुरस्राभ्यंतरमण्डलं वृन्दावनाख्यम्, बहिर्मण्डलं कवलं श्वेतद्वीप ज्ञेय गोलोक इति यत पर्यायः ।"—(श्रीकृष्णसन्दर्भ-१०६) । श्रीरूप गोस्वामीने भी स्वकृत लघुभागवतामृत (१।२७७-२७८) में कहा है—"यत्तु गोलोक नाम स्यात् तच्च गोकुल वैभवम् ।" श्रीजीव गोस्वामीजी इस विषयमें और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि गोलोक—वृन्दावन या गोकुलका प्रकाश विशेष है । वृन्दावनीय लीलाके दो क्षेत्र हैं—वृन्दावन और गोलोक । वृन्दावनमें प्रकट और अप्रकट उभय प्रकारकी लीलाओंकी स्थिति है; परन्तु गोलोकमें केवल अप्रकट लीलाकी ही स्थिति है—"अथ यदुक्तं श्रीवृन्दावनस्यैव प्रकाशविशेषे गोलोकत्वं यत्र प्रापञ्चिकलोका प्रकटलीलावभासमान प्रकाशो गोलोक इति समर्थनीयम् । प्रकटाप्रकटतया लीलाभेदश्चाग्रे दर्शयितव्यः ।" (—श्रीकृष्णसन्दर्भ—११६ संख्या)

अतएव गोलोक और वृन्दावन (या गोकुल) अभिन्न होने पर भी लीलावैशिष्ट्यके कारण गोलोकसे वृन्दावनका उत्कर्ष है । इसी वृन्दावनमें ही श्रीगिरिराजगोवर्द्धन हैं एवं उनके तट - प्रदेशमें ही श्रीराधाकुण्ड विराजमान हैं। यह राधाकुण्ड ही वृन्दावनमें श्रीकृष्णकी लीलाका सर्वोत्कृष्ट स्थान है (—श्रीरूपगोस्वामीकृत उपदेशामृतका ९ वाँ श्लोक)। अतएव वृन्दावन समस्त लोकोंसे श्रेष्ठ है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णकी इच्छासे ही यह धाम भौम जगत में आविर्भूत होता है । भौम जगतमें अवतीर्ण होने पर भी उसका चिन्मयत्व सर्वथा अक्षुण्ण रहता है । जड़ा प्रकृतिसे उसका कुछ भी संपर्क नहीं होता । यहाँकी भूमि चिन्तमणि है, वृक्ष कल्पवृक्ष हैं, सरि-

ताएँ अमृत वाहिनी हैं और गौवें कामधेनु हैं। यहाँ पर रसिक शिरोमणि श्रीकृष्ण गोप-गोपियोंके साथ नित्य-विलास करते हैं। श्रीकृष्णका लीला कथन ही यहाँ गान है, उनका चलना ही नृत्य है, उनकी बंशी ही प्रिय सखी है, यहाँ की ज्योति तथा समस्त भोग्य पदार्थ चिदानन्द-स्वरूप ही हैं—

(क) ब्रह्माण्डे प्रकाश तार कृष्णेर इच्छाय।
एकई स्वरूप तांर नाहि दूई काय॥
चिन्तामणि भूमि कल्पवृक्षमय वन।
चर्म चक्षे देखे तारे प्रपंचेर सम॥
गोप-गोपी संगे जाहाँ कृष्णेर विलास।

(चै० च० मा० ५।२१-२१)

(ख) श्रियः कान्ताः परम पुरुषः कल्पतरवो—
द्रुमा भूमिश्चिन्तामणि गणमयी तोयममृतम्।
कथा गानं नाट्यं गमनपि वंशी प्रिय-सखी;
चिदानन्दं ज्योतिः सरति ददास्वाद्यमपि च॥

(ब्रह्मसंहिता)

ब्रह्माण्डगत सूर्य और चन्द्र इस वृन्दावनको आलोकित नहीं करते, बल्कि श्रीकृष्णके अङ्गोंकी प्रभा ही वहाँ चिदानन्दस्वरूप ज्योति है।

पुनीत लता-पता एवं गोप-गोपियोंसे युक्त श्री-वृन्दावनकी शोभा कभी भी कुण्ठित नहीं होती है। इसके चारों ओर वृक्ष-लताएँ बसन्तागमसे अत्यन्त प्रमुदित होकर अभिनव पल्लव युक्त, चंचल शाखा रूप कर स्पर्श द्वारा भ्रमरालिंगित, विकसित, पुष्परूप अञ्जनयुक्त नयनोंसे परस्पर अवलोकन करती हैं एवं वायु-वेगसे कम्पित होकर उन्मत्त कोकिलके समान शब्द-छलसे परस्पर रसालाप करती हैं, इस प्रकार कलियोंका प्रस्फुटित होना ही इस महामहिम वृन्दावनका रोमाञ्च है (देखिये—श्रीराय रामानन्दकृत "जगन्नाथ वल्लभ" नाटक, प्रथमांक २५-२६)।

यह नित्य वृन्दावन सदा सर्वदा प्राणिमात्रके लिये मङ्गलमय है। इसकी महिमा अत्यन्त अगाध है। विभिन्न महापुरुषोंनेश्रीवृन्दावन धामकी उपलब्धि कर नाना भाँति इसका वर्णन किया है। भक्त चरण-दासके शब्दोंमें देखिये:—

वृन्दावनकी साधुगति कापै बरणी जाय।
जैसी जाकी दृष्टि है तैसी ही दरसाय॥

श्रीवृन्दावनको शास्त्रोंमें सच्चिदानन्दधाम कहा गया है। साधारण लोगकी तो बात ही, क्या बड़े-बड़े योगिन्द्रों एवं ब्रह्मा-शिव-इन्द्रादि देवताओंके लिये भी इस सच्चिदानन्दधामका दर्शन सुदुर्लभ है। तब भौतिक नेत्रोंसे जिस रूपमें इसका दर्शन किया जाता है, उसे "प्राकृत दर्शन" कहते हैं। वृन्दावनका यह प्राकृत दर्शन भी अतीव सुन्दर, नयनमोहक तथा सब भाँतिसे श्रेष्ठ है। अतएव प्राकृत-अप्राकृत—सभी दृष्टियोंसे वृन्दावन महामहिम हैं।

जिस रसमय वृन्दाविपिनमें उत्पन्न तृण-फलके रस हेतु लुब्ध होकर अमृत-भोज्य देवादिदेव भगवान् श्रीकृष्णस्वयं गोवत्सरूपमें अवतरित हुए।

"···तृणफलानाम् यस्य लुब्धो रसाये।
प्रभुरमृतभुजामप्याश्रयद् वत्सभावः॥"

(रूप गो० द्वारा संकलित पद्यावली)

समस्त उपनिषदोंने जहाँ गोरूपमें उत्पन्न होकर

श्रीराधा-कृष्णाके चरण-कमल-मकरन्दसे अभिरंजित तृणोंका रसास्वादन करके अपने को कृतार्थ किया—

गोरूपाः सकला इहोपषितः कृष्णे रमन्ते व्रजे।
वृन्दारण्य तृणं तु दिव्यरसदं नित्यं चरन्त्योऽनिशम्॥
(वृन्दावनशतक)

जिस वृन्दावनमें गोपियाँ निरन्तर कृष्ण-संगमसे श्यामवर्ण ही नहीं, वरन् स्तब्धता प्राप्तकर "श्यामलता" के व्याजसे स्थावर रूप और उनकी सहचारियाँ श्रीराधिकानाथ दर्शनामोदसे स्तब्ध होकर, कण्टकित होकर मूर्ति भेदोंसे गुल्मरूपमें यहीं स्थित हो गईं। श्री, भू एवं लीलाशक्ति नन्द-नन्दनकी सेवा हेतु अपने प्रचुर पुण्योंसे स्थावर भाव धारण करके क्रमशः 'याति', 'धात्री' तथा 'तुलसी' बनकर जिस वृन्दा-विपिन में नित्य वास करने लगी तथा "ब्राह्मी" (ब्रह्म-पत्नी), एवं हेमवती (पार्वती) कृष्ण-दर्शन की लालसासे जिस वृन्दावनमें क्रमशः "सोमवल्ली" एवं "हरितकी" लताओंके व्याज स्थावररूपमें नित्य निवास करती हैं (देखिये कविराज कृष्णदास गो० कृत गोविन्दलीलामृतम्)। उस महामहिम वृन्दावन की वास्तविक महिमाका वर्णन कोटि-कोटि देवगण भी नहीं कर सकते हैं।

दार्शनिक वैष्णवाचार्योंने इस वनको समस्त लोकोंमें श्रेष्ठ और चिद्घन रूप कहा है:—

पारशून्य परधाम तेऽद्भुतम् ।
चिद्घनं जयति लोक मूर्द्धनि ॥
(सविशेष निर्विशेष श्रीकृष्णस्तवराज श्लोक १७)।

परमेश्वर श्रीसर्वेश्वरेश्वर अव्यक्त रूपसे सर्वत्र व्याप्त रहते हुए भी इस वृन्दावनमें व्यक्तरूपसे सदैव विराजमान रहते हैं। यह पहिले लिखा जा चुका है कि श्रीवृन्दावनके साथ "धाम" शब्दका प्रयोग होता है। कहीं कहीं तो केवल "धाम" शब्दसे तथा "परंपद" आदि शब्दोंसे भी इसका सम्बोधन होता है। यह परंपद व धाम सब लोकोंसे अत्यन्त उत्कृष्ट बतलाया गया है। यद्यपि दूधमें घी सर्वत्र व्याप्त है तथापि मन्थनोपरान्त जब यह घी प्रगट होता है तो दूधके ऊपर प्रत्यक्ष दिखाई देता है। ठीक उसी प्रकार सर्वलोक शिरोमणि परं धाम श्रीवृन्दावनमें श्रीश्यामसुन्दरके भी दर्शन होते हैं।

"वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति" पुराणोंकी यह उक्ति इसी आशयको पुष्ट करती है। इसीलिये वेद, उपनिषद्, पुराण, तंत्र, स्मृति आदि समस्त शास्त्रोंमें श्रीवृन्दावनका महत्व कूट कूट कर भरा हुआ है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने भी कहा है कि जहाँ पहुँचकर साधक जन्म-मरणरूपी संसृति—चक्रसे छुटकारा पा जाता है, वही मेरा परम धाम (श्रीवृन्दावन) है:—

न तद्भासते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तंते तद् धाम परमं मम॥
(गीता ५।६)

—केदारदत्त तत्रादी एम. ए. सा. रत्न. साहित्यालङ्कार

श्रीमद्भागवतमें सख्य भाव

वात्सल्यभाव जिस प्रकार अपनी सीमामें पूर्ण है, उसी प्रकार उसके अति निकटका सम्बन्ध रखनेवाला सख्यभाव भी विशाल गौरव लिए हुए है। वात्सल्यमें जननी और पुत्रकी तदाकारता है, तो यहाँ सखा-सखाकी तदाकारता है। सख्यभाव भी बालकपनसे लेकर जीवनकी चरम सीमा तक अबाध एवं अविच्छिन्न रूपसे प्राणिमात्रमें किसी-न-किसी रूपमें रहता है।

इसके द्वारा दो हृदय भिन्न-भिन्न होने पर भी एक साथ रससमुद्रमें डूबते हैं। एकका मन दूसरेका मन हो जाता है। एकका जीवन दूसरेका जीवन, एककी प्रवृत्ति दूसरेकी प्रवृत्ति, एकका कार्य-कलाप दूसरेका कार्य-कलाप बन जाता है। प्रत्येक अवस्थामें एकता, तल्लीनता, समता, सरसताका मिश्रण होता है। लघुता, महत्ताका कटघरा टूट जाता है। मान-अपमानको यहाँ स्थान ही नहीं मिलता।

सख्य रसमें विषय—कृष्ण हैं तथा आश्रय—कृष्णके वयस्य या सखा हैं। कृष्णके सखागण अपने प्रिय सखा—श्रीकृष्ण पर अपना तन-मन-वचन—सब कुछ निछावर कर देते हैं। सर्वांशतः वे अपनेको श्रीकृष्णका ही बना डालते हैं। दास्य और वात्सल्य रसमें कृष्ण एवं कृष्णभक्तोंमें परस्पर विजातीय भाव होते हैं; परन्तु सख्य-रसमें उन दोनोंमें एकजातीय प्रीति होती है, जो एक अनिर्वचनीय चित्त-चमत्कारी भावका सम्पादन करती है। साथ ही इस रसमें कृष्ण और कृष्ण सखाओंके बीच गौरव या संभ्रमकी दीवार भी नहीं होती। इसलिए दोनोंमें परस्पर स्वच्छन्दरूपसे भावोंके आदान-प्रदान, हास-परिहास और विनोद आदि द्वारा प्रीतिकी चमत्कारिता बढ़ जाती है। सखा उन्मुक्त हृदयसे प्रिय सखा—श्रीकृष्णकी मन-मोहिनी मादक रूप-माधुरी एवं लीला-माधुरीका रसास्वादन कर उन्मत्त सा हो जाता है।

इसीसे श्रीमद्भागवत प्रणेता श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासने इस रस महोदधिमें आमूल-चूल डूब-डूब कर वात्सल्यके समान ही सख्य भावका निरूपण श्रीमद्भागवतमें किया है। उस सख्य भावकी परम पावनी सरितामें अवगाहन कर अपने जीवनको कृतार्थ करनेकी यदि उत्कट अभिलाषा है तो हमें भी परम भाग्यशालिनी माता यशोदाके प्राङ्गणमें चलना पड़ेगा। क्योंकि अन्यत्र यह शुद्ध सख्य भाव कहाँ मिलेगा।

अहा! आज प्रातः कालसे ही नन्दगेहिनीके भवनमें आनन्द रससे भरे बादल उमड़-घुमड़ रहे हैं; सारी प्रकृति, पशु-पक्षी, सभीके हृदयमें आनन्द उछालें ले रहा है। मुनीशोंकी महिमा, दिगीशोंकी सम्पत्ति, ईशोंकी सिद्धि, भगवती लक्ष्मीकी समग्र प्रभुता व्रजमें बिखर गई है। उसका कारण है बड़ी कठिन साधना और तपस्याके अनन्तर कोटि ब्रह्माण्ड-नायक परब्रह्म श्रीकृष्णने बालरूपसे व्रजभूमिके

नन्दालयमें जन्म लिया है; जो व्रजका सर्वस्व है, गोपियोंका प्राणधन है। माताका लाड़िला है, गोवंश का पालक गोपाल है, गोपोंका जीवन-साथी और सखा है।

गोपाः परस्परं हृष्टा दधिक्षीरघृताम्बुभिः।
आसिञ्चन्तोविलिपन्तो नवनीतैश्च चिक्षिपुः॥
(भा० १०।५।१४)

इसलिये गोपगण परस्परमें प्रसन्न होकर दही-दूध घृत, जल और मक्खन फेंकने लगे हैं, आपसमें एक-दूसरेको लगाने लगे हैं।

नन्दरानीके यहाँ बालकने जन्म लिया है—यही गोपोंके अत्यधिक आनन्दका कारण नहीं है। इनके आनन्दका कारण तो कुछ दूसरा ही है और वह है—अपने जीवनके लिये अपूर्व साथीका प्राप्त होना, जो उनका कर्णधार होनेकी क्षमता रखता है, व्रजका उजियाला है। भला, ऐसे मित्रकी प्राप्ति पर किसे प्रमोद न होगा। आज उनकी आशाएँ पूरी हुई हैं। उनके भाग्यसूर्यका उदय हुआ है। उन्होंने बड़ी साधनाके बाद अपने गोपाल सखाको परख लिया है।

अस्तु, प्रतीक्षा करते-करते गोपोंने स्वप्नकी भाँति २-३ वर्ष पूर्ण कर दिये हैं और नटखट कन्हैया भी क्रीड़ा करते हुए बालचन्द्रकी भाँति बड़े हो गये हैं। उनकी लीलामें गोपबालकोंने भी प्रवेश कर लिया है। अब वह छोटे-छोटे सुकोमल अरुण चरणोंसे गोपबालकोंके झुंडमें खेलने लगे हैं। उनकी पहली-पहली हिचकिचाहट भी अतिसाहचर्यके कारण दूर हो गई है। इसीसे उन्हें साथियोंका साथ अधिक रुचने लगा है। तन्मयता बढ़ने लगी है; यहाँ तक कि स्नेहमयी माता यशोदा और रोहिणीके आह्वानको भी सखा मण्डलीमें व्यस्त रहनेके कारण नहीं सुनने लगे हैं। अतः यहाँ यह कहा जाय कि वात्सल्यके ऊपर सख्यत्वने अधिकार कर लिया है तो असंगत नहीं होगा।

इसकी अपूर्वता इसीके साथ है। परस्परमें एक दूसरेके साथ धक्के-मुक्के चलते हैं, मार-पीट होती है, एक-दूसरेको भला-बुरा कहा जाता है, डट-डटकर तुमुल युद्ध होता है, आपसी झगड़े होते हैं। एक दूसरेको पिटवानेमें आनन्द आता है, छेड़-छाड़, परिहास करनेमें सुख होता है; खिजाना, रुसाना, रुलाना भी एक प्रमोद माना जाता है। ऐसी स्थिति आने पर भी थोड़ेसे समयमें ही सब एक पहलेकी कटुता भरी सारी बातें दूर, माताके पास शिकायतें पहुँचती हैं। रोका जाता है, बाँधा जाता है; पर जैसे ही अवसर मिला, किसी-न-किसी रूपसे छूट कर अपने साथियोंकी मण्डलीमें। न देहका भान है, न वस्त्रका, न खान-पानका। छोटे-बड़े सभी समान।

इससे सिद्ध है कि मित्रोंका लोक कोई निराला लोक है। जहाँ न दुःख है, न शोक। वहाँ तो आदि, मध्य, अन्तमें आनन्द ही आनन्द है।

प्रतिदिन कोई नया खेल, नई योजना, नये विचार, नई-नई भाव धाराएँ, प्रकट होती हैं, विलीन होती हैं।

तदस्तु भगवान् कृष्णो वयस्यैर्व्रजबालकैः।
सहरामो व्रजस्त्रीणां चिक्रीडे जनयन् मुदम्॥
(भा० १०।८।२७)

अनन्तर बलराम सहित श्रीकृष्ण अपने समान अवस्था वाले ग्वाल-बालोंके साथ गोपियोंको आनन्द देनेके लिये क्रीड़ा करने लगे।

किसी समय सूना भवन देखकर अपनी गोप मण्डलीको साथ लेकर गोपियोंके भवनोंमें प्रवेश कर जाते। वहाँ पहुँच कर उनके बछड़े छोड़ देते, छोटे-छोटे बालकोंको जगा देते, ऊपर के छीकोंपर रक्खे हुए दही, दूध, मक्खनको किसी उलूखलके सहारे अपने साथीको खड़ा करके उसकी पीठपर स्वयं चढ़कर दूध, दही लुढ़का देते। स्वयं खाते, गोप मण्डलीको खिलाते और बचा-खुचा मोरों, एवं बन्दरोंको लुटा देते। बर्तनोंको फोड़ डालते। माताके पास प्रतिदिन शिकायतें पहुँचती। परन्तु मनमोहिनी मन्द-मुसकान और रूप-माधुरीमें सब कुछ विलीन हो जाता और सभी अपने भाग्यकी सराहना करतीं।

एक दिन मित्र-मण्डलीमें खेल-खेलमें ही छोटा सा झगड़ा हो गया और शरारती कन्हैयाने छिप-छिपाकर मना करने पर भी मिट्टीका एक ढेला मुखमें रख लिया। यह देखते ही सारी गोप-मण्डली एक हो गई और मोहनसे बदला लेनेकी ठान ली, बल भैयाको आगे कर माताके न्यायालय पहुँच गई।

एकदा क्रीड़मानास्ते रामद्य गोपदारकाः।
कृष्णो मृदं भक्षितवान् इतिमात्रे न्यवेदयन्॥
१०।८।३२

एक दिन खेलते हुए बलदेव आदिने यशोदासे आकर कहा—'माँ! कृष्णने मिट्टी खाई है।'

हितैषिणी यशोदाने भय-चकित नेत्रोंसे श्रीकृष्ण का हाथ पकड़ कर उलाहना देते हुए आगे मिट्टी न खानेका संकेत किया और मुख खोलनेको कहा—श्रीकृष्णने मुख खोलकर दिखा दिया और माताके साथ सभीको आश्चर्यमें डाल दिया।

इस प्रकार नित्यनवीन क्रीड़ा करते हुए दिन बीते, मास बीते, वर्ष बीते। फिर एक दिन वह आया कि गोप बालकोंने श्रीकृष्णकी इच्छा देख माता यशोदा से हटखट कन्हैयाको आस-पास ही में वत्सोंको चरानेके लिये माँग लिया। वनमाली तो पहलेसे ही योजनाके अनुसार प्रस्तुत बैठे थे। अतः आज्ञा होते ही आप बाल-सखाओंके साथ चल पड़े।

अविदूरे व्रजभुवः सह गोपालदारकैः।
चारयामासतुर्वत्सान् नाना क्रीड़ा परिच्छदौ॥
क्वचिद् वाद्यतो वेणुं क्षेपणैः क्षिपतः क्वचित्।
क्वचिद् पादैः किङ्किणीभिः क्वचिद् कृत्रिमगोवृषैः॥
वृषायमाणौ नर्दन्तौ युयुधाते परस्परम्।
अनुकृत्य रुतं जन्तूं श्वेचतुः प्राकृतौ यथा॥
भा० १०।११।३८ से ४०

क्रीड़ाके अनेक साधनोंसे पूर्ण होकर दोनों भाई व्रज भूमिके समीप गोप-बालकोंके साथ बछड़े चराने लगे।

वहाँ जाकर कभी मुरली बजाते, कभी कहीं गुलेल या ढेलवाँससे ढेले या गोलियाँ फेंकते, कभी घूँघरू धारण किये चरणोंसे नृत्य करते, कभी कमली ओढ़-कर बछड़े बनते, कभी वृषका सा रूप बनाकर बैलकी भाँति ही नाद करते, आपसमें युद्ध करते, कभी हँसते, मोर आदि जन्तुओंका अनुकरण करते, प्राकृत बालकों कीसी चेष्टा करते। सारे गोप-बालक उनका साथ देते।

इसी लीलाके मध्यमें वत्सासुर नामका कंसके द्वारा भेजा गया असुर भी आ पहुँचा। उसे भी लीलामें ही परलोकका पथिक बना दिया। उसे देख कर—

तं वीक्ष्य विस्मिता बालाः शशंसुःसाधु साध्विति।
१०।११।४४

उस असुरको मरा देख विस्मयमें भरकर बालकों ने वाह-वाहकी ध्वनि की।

इस प्रकार अपने साथियोंके साथ—

तौ वत्सपालकौ भूत्वा सर्वलोकैक पालकौ।
सप्रातराशौ गोवत्सांश्चारयन्तौ विचेरतुः॥
भा० १०।११।४५

इस प्रकार सब लोकोंके पालक होकर ये दोनों भाई प्रातः कालका भोजन साथ लेकर अपने साथियों के साथ बछड़ोंको चराते-फिरते थे।

इसी बीचमें बकासुर नामके एक असुरने श्रीकृष्ण को अपनी तीखी चोंचवाले विशाल मुखमें ले लिया।

कृष्णं महाबक ग्रस्तं दृष्ट्वा रामादयोर्भकाः।
बभूवुरिन्द्रियाणीव विना प्राणं विचेतसः॥
भा० १०।११।४६

बलराम आदि सब बालकोंने श्रीकृष्णको बकासुरके द्वारा निगला हुआ देखकर अधिक चिन्ता की और सब प्राणरहित इन्द्रियोंके समान अचेत हो गये। यह दशा देखकर श्रीकृष्णने उसके तालुमें जलन उत्पन्न कर दी, उसने श्रीकृष्णको मुखसे बाहर निकाल दिया, तब लीलामयने सबके देखते-देखते उसकी जीवन लीला समाप्त कर दी। इस प्रकार कोई न कोई लीला चलती रहती।

एक दिन बनमें भोजन करनेकी इच्छासे भोर होते ही उठकर सुन्दर सींगाके शब्दसे अपने मित्र ग्वाल-बालोंको जगा दिया, बछड़ोंके यूथोंको आगे कर लिया और वनकी ओर निकल पड़े।

श्याम सुन्दरके साथ सहस्रों बालक अच्छे-अच्छे छीकें, बेंत, सींगा और बांसुरी लिये हुए थे। सहस्रों बछड़े उनके आगे थे। सभीने मनमोहक शृंगार कर रक्खा था। शिरपर फूलोंके गुच्छे, मोर-पिच्छ धारण कर रक्खा था।

वनमें पहुँचकर बछड़ोंको चरने छोड़ दिया। उस समय कोई सींगा बजाने लगा, कोई भौंरोंके साथ गुञ्जार करने लगा, कोई कोयलोंके स्वरमें स्वर मिलाने लगा, कोई पक्षियोंकी छायाके साथ दौड़ने लगा, कोई हंसकी, और कोई मोरकी चाल चलने लगा, कोई बंदरोंकी पूँछ खींचने लगा, कोई वृक्षोंपर चढ़ने-कूदने, नदी झरनोंमें नहानेमें ही लीन हो गया। इस प्रकार का आमोद-प्रमोद देखकर भगवान् वेदव्यासको भी अवमग्न होकर कहना पड़ा—

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या दास्यं गतानां परदैवतेन।
मायाश्रितानां नरदारकेण साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुंजाः॥
यत्पादपांशुर्बहुजन्मकृच्छ्रतोधृतात्मभिर्योगिभिरप्यलभ्यः।
स एव यद्दृग्विषयः स्वयं स्थितः किं वर्ण्यते दिष्टमतो व्रजौकसाम्॥
(भा० १०।१२।११-१२)

पुण्यशाली ये गोप-बालक धन्य हैं। जो भगवान् विद्वानोंके ब्रह्म सुख और अनुभव रूप हैं, भक्तों के परम देवता रूप हैं, मायामोहित पुरुषोंके लिये मनुष्यके बालक रूप हैं, उनके साथ ये विविध प्रकार की क्रीड़ा कर रहे हैं। क्योंकि ज्ञानियों, योगियोंको ब्रह्मका अनुभव मात्र होता है। भक्तोंको बड़ी तपस्या के पश्चात् दर्शन ही होता है। परन्तु इनके भाग्यकी सराहना कहाँ तक की जाय कि इनके साथ सखा भाव से क्रीड़ा की जा रही है।

बहुत जन्म तक कष्ट सहन करके मनको वशमें करने वाले योगीजनोंको भी जिनके चरणोंकी रज मिलना दुर्लभ है, वे ही भगवान् आप जिनकी दृष्टि के सामने साथ रहकर क्रीड़ामें तत्पर हो रहे हैं, ऐसे व्रज वासियोंके भाग्यकी सराहना किसके द्वारा और कहाँ तककी जा सकती है? (क्रमशः)

—बागरोदी श्री कृष्णचंद्र शास्त्री जी काव्यतीर्थ, साहित्यरत्न, साहित्याचार्य

श्रीराधाप्रार्थना-चतुःश्लोकी

कृपयति यदि राधा बाधितोत्रषबाधा किमपरमवशिष्टं पुष्टिमर्यादयोर्मे।
यदि वदति च किंचित्स्मेरहासादितश्रीद्विजवरमणिपंक्त्या मुक्तिशुक्त्या तदाकिम् ॥१॥

श्यामसुन्दर शिखंडशेखर स्मेरहास्य मुरलीमनोहर।
राधिकारसिक मां कृपानिधे स्वप्रियाचरणकिंकरी कुरु ॥२॥

प्राणनाथ वृषभानुनन्दिनी श्रीमुखाब्जरसलोलषट्पदा।
राधिकापदतले कृतस्थितिस्त्वां भजामि रसिकेंद्रशेखर ॥३॥

संविधाय दशने तृणं विभो प्रार्थये व्रजमहेन्द्रनन्दन।
अस्तु मोहन तवातिवल्लभाजन्मजन्मनि मदीश्वरी प्रिया ॥४॥

अनुवाद—

सम्पूर्ण बाधाको दूर करनेवाली श्रीमती राधिका यदि कृपा करें तो मेरी रागानुगा (पुष्टि) और वैधी भक्ति (मर्यादा) में क्या बाकी रहता है अर्थात् कुछ शेष नहीं रह जाता। यदि (वे) कुछ प्रसन्नता-पूर्वक मृदु मधुर मुस्कानसे उत्पन्न शोभायुक्त मणिके समान दंत-पंक्तियोंसे बोलती हैं तो मुक्ता (मोती) और सीपका भी सौन्दर्य पराभूत हो जाता है। [यहाँ भक्ति पक्षमें मुक्तिका आनन्द भी फीका पड़ जाता है। अर्थात् श्री राधिकाजीकी प्रसन्नता हेतु उनका भक्त मुक्तिको भी हेय समझकर ठुकरा देता है] यहाँ श्लेषालंकार है: मुक्तिके दो अर्थ हैं—मोती और मोक्ष ॥१॥

हे मस्तकपर मोर पंखका धारण करनेवाले मन्द-मधुर मुस्करानयुक्त मुरली-मनोहर श्यामसुन्दर! हे राधारसिक कृपानिधान! आप मुझे अपनी प्राण-प्रिया श्रीराधाके चरणकमलोंकी दासी बनाइए ॥२॥

हे वृषभानुनन्दनी श्रीमती राधाके मुख-कमलका रसास्वादन करनेमें चंचल भ्रमर! हे रसिक-शिरोमणे! श्रीराधिकाके चरण-तलमें दत्तचित्त मैं आपका भजन करता हूँ। अर्थात् श्रीमती राधिकाजीके चरणारविन्दमें मनकी स्थिति प्राप्त करनेके उद्देश्यसे आपका भजन करता हूँ ॥३॥

हे व्रजेन्द्रनन्दन! हे स्वामी! हे मोहन! मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आपकी अति प्यारी प्रिया श्रीमती राधिका जन्म जन्मान्तरमें मेरी ईश्वरी बनी रहे ॥४॥

प्रेषक और संकलन कर्त्ता—बल्लभदास बिन्नानी "व्रजेश" साहित्यरत्न, साहित्यालंकार

श्रीपत्रिका-प्राशस्ति

श्री सम्पादक श्रीभागवत पत्रिका,
श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ,
मथुरा।

वल्लभदास बिन्नानी "ब्रजेश" साहित्यकार
४३. स्ट्रान्ड रोड, कलकत्ता।
८-१२-१९६२

मान्यवर महोदय,

श्रीराधिका स्मरण।

आपको यह जानकर अतीव प्रसन्नता होगी कि प्रायः मुझे आपकी श्रीभागवत पत्रिका कहीं-न-कहीं से पढ़नेको मिल जाती है जिसे मैं सदैव बड़े उत्साहसे पढ़ता हूँ। इतने अल्प समयमें इस पत्रिकाने जो आशातीश उन्नति की है वही इसकी महान् सफलताका द्योतक है। इसमें प्रकाशित सारी सामग्री सचमुच बड़ी ही उच्च कोटिकी रहती है। लेखोंका चयन बहुत ही सुन्दर ढङ्गसे होता है। श्रीचैतन्य महाप्रभु एवं उनके सिद्धान्तोंका ठोस एवं सुचारु रूपसे प्रतिपादन करने वाला यह मासिक पत्र प्रकाशित होकर भक्तजनों की आध्यात्मिक व पारमार्थिक उन्नतिमें अपना योगदान दे रहा है। इससे अधिक प्रसन्नताकी बात भला क्या हो सकती है ? इस पत्र द्वारा श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धान्त, रहस्य एवं उनकी दार्शनिक विचार-धारा पर पर्याप्त रूपसे प्रकाश पड़ेगा।

आज जब कि सभी अन्य सम्प्रदायोंके अपने-अपने प्रचार पत्र खूब सुचारू रूपसे निकल रहे हैं तो फिर गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदायसे सम्बन्धित किसी भी पत्रका अब तक न निकलना खटकता था। सचमुच ऐसे मासिक पत्रका सर्वथा अभाव था, जिसकी आपने पूर्ति की है। आज जब कि देश पर विपत्तियोंके पहाड़ टूट रहे हैं एवं धर्म व संस्कृति पर भीषण प्रहार हो रहा है तो ऐसे संकट ग्रस्त समयमें इसका प्रकाशन निस्सन्देह बहुत ही गौरवयुक्त एवं महत्वपूर्ण है। अतएव ऐसे समय अपने सम्प्रदायकी रक्षा, हित एवं उत्थानके लिये इसका निरन्तर प्रकाशित होना परमावश्यक हो गया है। अतः आपका यह प्रयास बहुत ही स्तुत्य एवं प्रशंसनीय है, जिसके लिये आप बधाई और साधुपादके पात्र है। यह पत्र दीर्घजीवी होकर श्रीगौड़ीय सम्प्रदायके सिद्धान्तों, रहस्यों एवं तथ्योंका भक्तजनोंमें प्रचुर प्रचार करते हुए अपनी अखण्ड सेवासे सम्प्रदायका सर्वांगीण विकास कर पुनः उसे एक बार अपने सर्वोत्कृष्ट शिखर पर पहुँचा दे, जिससे उसकी यश पताका चारों ओर पहलेकी तरह फहराने लग जाय। मैं इसकी सफलताके लिये श्रीचैतन्य महाप्रभुजी से प्रार्थना करता हूँ।

श्रीभागवत-पत्रिकाके श्रद्धालु पाठकोंके लाभार्थ इसमें प्रकाशनार्थ भगवती श्रीराधिकाजीसे सम्बन्धित एक चतुःश्लोकी स्तोत्र भेजता हूँ। मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि गौड़ीयके लिये खास तौरसे तैयार की हुई यह रचना आपको पसन्द आयगी और आप इसे भक्त जनोंके लाभार्थ प्रकाशित कर अनुगृहीत करेंगे। किमाधिकम् आप स्वयं विज्ञ हैं। अब मेरी हार्दिक इच्छा अपने लेखों आदि द्वारा इस पत्रकी निरन्तर सेवा करने की है। अपनी रचनाओं आदि द्वारा जो कुछ भी सहयोग मुझसे बन पड़ेगा मैं इसमें अवश्य बराबर देता रहूँगा। जिस अङ्कमें यह छपे उसे मेरे पास भेजें।

सद्भावनाओं एवं शुभकामनाओं सहित।

भवदीय—
वल्लभदास बिन्नानी "ब्रजेश"